Indian Streams Research Journal
Vol.2,Issue.II/March; 2012 मुकेश कुमार ठाकुर **ISSN:-2230-7850**

Research Paper

सहकारी संस्थाओ की वर्तमान स्थिति

मुकेश कुमार ठाकुर

प्रस्तावनाः–

आजकल अधिकांश राष्ट्रों में सहकारिता को देश का चहुँमुखी विकास करने वाली महत्वपूर्ण आर्थिक प्रणाली माना जाता है। कहीं–कहीं तो इसे राष्ट्र के पुनर्निर्माण के लिए एक अनिवार्य साधन माना जाता है। सहकारी आन्दोल का प्रमुख उद्देश्य जन–कल्याण है, अर्थात् इसका ध्येय दुर्बल व्यक्तियों को इस योग्य बनाना है कि वे पारस्परिक सहायता द्वारा आत्म–सहायता कर सकें। आजकल सरकारें भी जन–कल्याण के कार्यों में संलग्न हैं। ऐसी स्थिति में सरकार सहकारी आन्दोलन को सहायता प्रदान करके जन–कल्याण में तीव्रता से वृद्वि कर सकती है। अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति ने सरकारी सहायता के औचित्य को स्वीकार करते हुये लिखा है, ''विद्यमान दशायें उन्हीं व्यक्तियों द्वारा परिवर्तित नहीं की जा सकतीं जो अपने अस्तित्व से ही दलित तथा निर्बल हैं। रूपान्तरण की शक्तियाँ कम से कम उतनी ही शक्तिशाली होनी चाहिए जितनी कि उनकी प्रतिरोधक शक्तियाँ । ऐसी शक्ति सहकारिता द्वारा अकेले ही उत्पन्न नहीं की जा सकती वरन् राज्य के सहयोग से अवश्य उत्पन्न हो सकती है।''

इसी प्रकार के विचार कुलकर्नी ने व्यक्त किये है,''..... प्रत्येक आधुनिक सरकार का यह कर्त्तव्य है कि वह सहकारी आन्दोलन को, जिसका कार्य देश की शान्ति तथा समृद्धि पर अधिकतम सम्भव प्रभाव रखना है, हर प्रकार से पूर्ण सहायता प्रदान करने के लिए आगे आए।''

कुछ विद्वानों ने सहकारी आन्दोलन को सरकारी सहायता प्रदान किये जाने का तीव्र विरोध किया है। सरकारी–सहायता तथा सरकारी–नियन्त्रण सहकारिता के व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा आत्म–निर्भरता जैसे मैलिक सिद्वान्तों पर प्रहार है। बाह्य सहायता, चाहे वह जिस स्त्रोत से प्राप्त की जाये, प्राप्तकर्त्ता को पराश्रित बना देती है तथा उसकी स्वतः प्रेरण को नष्ट करती है। श्री श्रीमन नारायण ने इस सम्बन्ध में लिखा है, ''मैं देखता हूँ कि सहकारी समितियाँ गठित करने वाले व्यक्तियों में वित्तीय बढ़ती जा रही है। जब कभी आयोजना आयोग के सम्मुख योजनायें प्रस्तुत की जाती हैं तो प्रथम प्रश्न हमारे सम्मुख रखा जाता हैः वित्त के सम्बन्ध में रिजर्व बैंक तथा सरकार क्या करेंगी, सहकारी आन्दोलन सरकार पर सदैव निर्भर रहने वाला आन्दोलन नहीं होना चाहिये।''

सरकारी सहायता मिलने पर सहकारी आन्दोलन की गति मन्द पड़ जाती है क्योंकि सदस्यों में उत्साह तथा संकल्प की भावनायें दुर्बल होने लगती हैं। फिर, यदि संकट के समय राज्य–सहायता को बन्द कर दिया जाये तो सहकारी आन्दोलन का अस्तित्व ही संकट में पड़ सकता है।

सहकारी सहायता द्वारा निर्मित सहकारी आन्दोलन स्थिर तथा सुदृढ़ नहीं हो सकता। यदि सहकारी आन्दोलन को स्थिर तथा महत्वपूर्ण बनाना है, तो इसका प्रारम्भ तथा विकास निजी पहल के

द्वारा होना चाहिए। सरकार द्वारा निर्मित सहकारिता कभी–भी अधिक उपयोगी नहीं हो सकती। यदि आन्दोंलन को उपयोगी बनाना है, तो यह सरकार द्वारा वरन् स्वाभाविक रूप से प्रारम्भ तथा विकसित होनी चाहिये।

इंग्लैण्ड, जर्मनी, फ्रांस आदि कुछ यूरोपीय देशों में सहकारी आन्दोलन का आरम्भ वहाँ के निवासियों ने बिना किसी सरकारी हस्तक्षेप में किया। सहकारी भण्डार आन्दोलन की पहल तो मनुष्यों ने स्वयं की, जबकि साख तथा उत्पादक आन्दोलन लोकोपकारियों ने प्रारम्भ किये । राज्य ने केवल विशेष विधान द्वारा शुल्कों जैसे–मुद्रांक शुल्क, पंजीकरण शुल्क आदि को माफ किया तथा लाभ पर आय–कर में कुछ प्रदान की सहकारी आन्दोलन की प्रारम्भिक अवस्थाओं में सरकार को सक्रिया सहायाता तथा पूर्ण समर्थन की नीति अपनानी चाहिये। प्रारम्भ में सहकारिताओं को राज्य से ऋण अनुपुर्ति, आयकार में छूट आद सुविधायें मिलनी चाहियें। सहकारिताओं के हित में विभिन्न सरकारी शुल्कों (पंजीकरण शुल्क, मुद्रांक आदि) को माफ किया जा सकता है। फिर, सरकार सहकारी अनुसंधान तथा प्रशिक्षण की सुविधायें प्रदान कर सकती है तथा तकनीकी सहयाता के लिए संस्थान स्थापित कर सकती है। संक्षेप में, राज्य को सहकारिता आन्दोलन के मार्ग में आने वाली प्रत्येक बाधा को दूर करना चाहियें।

किन्तु सहकारी सहायता को आन्दोलन का स्थायी अंग नहीं बनाया जा सकता। राज्य को उद्येश्य सहकारी प्रयासों को आरम्भ में उत्साहित करके स्वावलम्बन की ओर अग्रसर करने का होना चाहिये। सरकारी सहायता निश्चित परिधियों में ही दी जानी चाहियें ताकि सहकारी समितियों के सहज विकास में कोई बाधा उत्पन्न न हो।

विभिन्न राष्ट्रो में समय–समय पर किसी न किसी रूप में सहकारी समितियों को सरकारों द्वारा सहायता प्रदान की गई है। इंग्लैण्ड में सहकारी गृह आन्दोलन ने पर्याप्त सरकारी वित्तीय सहायता प्राप्त की है। द्वितीय विश्व युद्व के बाद से तो समस्त यूरोपीय सरकारें ने कृषि सहकारी समितियों को हर प्रकार की वित्तीय सहायता देने की नीति अपनाई हैं आस्ट्रिया में तो शायद ही कोई ऐसी समिति हो जिसका उदय सरकारी सहायाता से सम्बधित न हो। फ्रांस में तो समस्त साख व्यवस्था का निर्माण सरकारी ऋणों द्वारा हुआ है, जिसकी देखभाल सरकार स्वयं करती है। डेनमार्क, आयरलैंड, कनाडा, अमेरिका आदि राष्ट्रों में वहाँ की सरकारों ने कृषि संस्थाओं को अप्रत्यक्ष सुविधायें प्रदान करके उनके विकास में सक्रिय सहयोग प्रदान किया है।

सहकारी नियोजन समिति के विचार में, चुँकि सहकारी आन्दोलन जनता का और जनता के लिए है इसलिए इसका संचालन भी अधिकाधिक जनता द्वारा ही स्वंय किया जाना चाहियें। फलतः यह अनिवार्य है कि सरकार द्वारा आन्दोलन को प्रेरित करने का अभिप्राय केवल सहायता प्रदान करना, मार्ग–दर्शन करना तथा कर्मचारियों को प्रदर्शित करना है, न कि आन्दोलन पर स्थायी नियन्त्रण स्थापित करना।

राजनीति एक कला है जो शासन चलाने से सम्बन्धित क्रियाओं तथा विधियों का अध्ययन करती है। इसका अभिप्राय उस सत्ता से है जो कुछ राजनीतियज्ञों या अन्य व्यक्तियों को प्राप्त होती है तथा जिसके द्वारा वे जन–साधारण के भाग्य का निर्माण या नाश करने की स्थिति में होते हैं। राष्ट्र के आर्थिक तथा सामाजिक मामले राजनीतिज्ञो के हाथ में होते हैं। इन व्यक्तियों के साधन, सामर्थ्य तथा कार्यक्षेत्र इतनी विशाल तथा विस्तृत होते है कि वे राष्ट्रीय गतिविधियों को, किसी सीमा तक, मनचाही दिशा में मोड़ सकते हैं। कहना न होगा कि सहकारी आन्दोलन को भी राजनीतिज्ञ विभिन्न ढंग से प्रभावित कर सकते हैं। अतः प्रश्न उठता है– सहकारी आन्दोलन के राजनीति से किस प्रकार के सम्बन्ध होने चाहिये?

सहकारिता के अनेक में राजनीतिक तथा धार्मिक निष्पक्षता एक प्रमुख सिद्वान्त है। सहकारिता का प्रमुख ध्येय मानव–जाति का सामाजिक तथा आर्थिक उत्थान करना है। सहकारी समितियों की स्थापना निर्बल व्यक्तियों द्वारा अपनी सामाजिक तथा आर्थिक उन्नति के लिए की जाती है। इस उद्येश्य की पूर्ति के लिए सदस्यों में परस्पर हार्दिक सहयोग तथा एकता का होना परमावश्यक है। मनुष्यों में

मतभेद के मुख्य कारण उनके विभिन्न धार्मिक तथा राजनीतिक विचार होते है। मतभेद से असहयोग की भावना उत्पन्न होती है, जो कि सहकारी प्रयासों पर कुठाराधात है। अतः सहकारी आन्दोलन की सफलता के लिए अनिवार्य है कि सहकारी कार्यकर्ता राजनीतिक तथा धार्मिक प्रभावों से दूर रहें।

सहकारी आन्दोलन में राजनीतिक विचारधाओं का समावेश हो जाने से आन्दोलन को निम्मांकित दुष्परिणामों का सामना करना पड़ सकता है–

(1) समितियों के संचालन व प्रबन्ध में कठिनाई– एक लोकन्तत्रीय राष्ट्र में अनके राजनैतिक दल अस्तित्व में होते हैं, जिनके सिद्वान्त तथा कार्यविधियाँ भिन्न–भिन्न होती हैं। सत्ता हथियाने के लिए उनमें बहुधा पारस्परिक संधर्ष होता रहता है। इसके विपरीत, सहकारी सहकरी संस्थाओं के सफल के लिए सदस्यों में परस्पर हार्दिक सहयोग तथा मतैक्य होना आवश्यक है अन्यथा इनका संचालन तथा प्रबन्ध सुचारू रूप से नहीं किया जा सकेगा।

(2) क्षेत्र के संकुचित होने का भय–सहकारी आन्दोलन के केवल एक या दो राजनैतिक दलों से सम्बद्ध हो जाने पर अन्य दलों के व्यक्ति इससे विमुख हो जायेंगे। फलतः आन्दोलन का क्षेत्र सीतित हो जायेगा।

(3) विरोधी दल के सत्तारूढ़ होने पर आन्दोलन का कुचला जाना–यदि आन्दोलन अपने को एक ही दल से सम्बद्व कर लेता है तो विरोधी दल के सतारूढ़ होने पर आन्दोलन के प्रति उसका रूख न केवल विरोधात्मक बल्कि विध्वंसात्मक भी हो सकता है।

(4) राजनीतिक निर्णय की अवस्था में आर्थिक हानि–सहकारी समितियाँ मुख्यतः सदस्यों के आर्थिक तथा सामाजिक कल्याण के उद्येश्य से संगठित की जाती है। राजनीतिक निर्णयों की अवस्था में सहकारी संस्थाओं को आर्थिक हानि उठानि पड़ सकती है।

(5) परावलम्बी प्रवृवियाँ उत्पन्न होने का भय– सहकारिता का प्रमुख उद्येश्य व्यक्तियों को आत्म–सहायता का पाठ पढ़ाकर उन्हें स्वावलम्बी बनाना है। अपने को सत्तारूढ़ व्यक्तियों या दल से सम्बद्व कर लेने पर आन्दोलन में परावलम्बी प्रवतियाँ उत्पन्न होने का भय रहता है।

उक्त तर्कों के सन्दर्भ में अब अधिकांश विद्वान वह स्वीकार करते हैं कि सहकारी कार्यकर्त्ताओं तथा संस्थाओं का राजनीति में सक्रिया भाग लेने का, देर या सवेर, आन्दोलन पर कुप्रभाव पड़ता है।

भारत के सहकारी आन्दोलन पर राजनीतिक प्रभाव का अध्ययन करने के लिए हम आन्दोलन को दो भागों में बाँटते हैं–(क) स्वतन्त्रता से पूर्व, तथा(ख) स्वतन्त्रता– प्राप्ति के पश्चात्।

स्वतन्त्रता से पूर्व–भारत में सहकारी आन्दोलन का इतिहास मुख्यतः सन् से प्रारम्भ होता है। सन् 1904 से 1947 तक आन्दोलन सरकार पर आश्रित था। सरकार ने इसका आरम्भ तथा संचालन अपनी नीतियों के अनुरूप किया। आन्दोलन को राजनीतिक प्रभाव से मुक्त रखने के उद्येश्य से सरकार ने अवांछनीय राजनीतिक व्यक्तियों को इससे दूर ही रखा क्योकि इस बात का भय था कि कहीं ये व्यक्ति आन्दोलन को स्वतन्तत्रा संग्राम का एक साधन की न बना लें। दूसरी ओर अधिकांश राजनीतिज्ञ भी स्वयं आन्दोलन से दूर रहे,

क्योकि उन दिनों यह आन्दोलन ओर प्रभावी ढंग से कार्य नहीं कर रहा था।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात्– देश के सन् 1947 में स्वतन्त्र हो जाने पर परिस्थितियो में अनेक परिवर्तन हुये। सहकारी आन्दोलन प्रभावी तथा शक्तिशाली होने लगा। राष्ट्रीय सरकार ने अपना आदर्श '' समाजवादी ढ़ग से समाज की स्थापना '' बनाया जिसकी प्राप्ति के लिए सहकारी प्रयासों को भी महत्वपूर्ण माना जाता है। पंचवर्षीय योजनाओं में सहकारिता को निरन्तर उचित स्थान तथा महत्व दिया गया है। सहकारी संस्थाओं को केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारो द्वारा वितिय तथा अन्य प्रकार की सहायता प्रदान की जा रही है। ऐसी स्थिति में राजनीतिज्ञों को सहकारी संस्थाओं में शमिल होकर अपने

प्रभाव में पर्याप्त वृद्वि करने के अवसर प्राप्त हुयें हैं। अनेक राजनीतिज्ञों ने तो इसमें प्रवेश करके महत्वपूण्र पद भी प्राप्त कर लिये हैं।

विभिन्न राष्ट्रा के अनुभव के आधार पर कहा जा सकता है कि यह प्रवृति आन्दोलन की प्रगति में बाधक ही सिद्व होगी। यह आशा नहीं की जा सकती कि भारत का राजनीतिज्ञ सहकारी समिति की सभाओं में अपने राजनीतिज्ञ विचारों को भुलाकर अपने मार्ग से भटक जायेगा।

(1) साख में कमी– जन– साधारण में सीमित दायित्व वाली समिति की साख कम होती है जिस कारण उसके सम्मुख वित्तीय कठिनाइयाँ उत्पन्न हो सकती है।
(2)संचालन के कठिनाई–पूँजी की कमी होने पर समिति अपना व्यवसाय सुचारूरूप से नहीं चला सकती।
(3) सहकारी सिद्धान्त के विरूद्ध–'सीमित दायित्व' का सिद्धात सहकारिता के प्रत्येक सबके लिये तथा सब प्रत्येक के लिये' कि सिद्धान्त के प्रतिकूल है।
(4) प्रबन्ध में लापरवाही–सीमित दायित्व वाली समितियाँ पर्याप्त जाँच–पड़ताल तथा पूछताछ के बिना ही ऋण दे देती हैं। इस प्रकार दायित्व के सीमित होने पर सहकारी संस्था के प्रबन्ध में लापरवाही तथा अकुशलता आ जाती है।

पर्याप्त समय से यह विवाद रहा है कि सहकारी समिति के सदस्यों का दायित्व सीमित होना चाहिये या असीमित। इस सम्बन्ध में विद्वानों ने विभिन्न विचार व्यक्त किये हैं। भारत में सर्वप्रथम सन् 1904 के सहकारी साख अधिनियम में असीमित दायित्व को स्थान दिया गया।

मैकलेगन समिति के विचार में, ''असीमित दायित्व सिद्धान्त को अपनये रखने के हमारे पास अनेक कारण हैं ताकि कृषि साख समितियाँ असीमित दायित्व की समितियाँ हों।''

किन्तु नियोजन समिति 1964 ने इससे भिन्न विचार व्यक्त किया, '' कृषकों को अपनी समितियाँ सीमित या असीमित दायित्व पर गठित करने के लिए स्वतन्त्रता दी जानी चाहिये।

रिजर्व बैंक के एक अधिकारी ने असीमित दायित्व का समर्थन करते हुये कहा था, 'हम अनुभव करते हैं कि असीमित दायित्व आवश्यकता का विषय है न कि चुनाव का तथा यदि सस्ती दरों पर कोष आकर्षित करने हैं तो इस प्रकार के दायित्व से कोई बचाव दिखई नहीं पड़ता।''

सीमित दायित्व दोनों में गुण तथा दोष विद्यमान हैं। वस्तुतः दायित्व के सम्बन्ध में कोई नियम नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि यह तो सहकारी समितियों की सुविधा पर निर्भर करता है कि वे सीमित दायित्व या असीमित दायित्व में से किसे अपनाती हैं। आजकल सहकारी संस्थाओं की प्रवृति सीमित दायित्व की ओर झुकी हुई है। विशाल आकार की सहकारी समितियों में पारस्परिक जानकारी तथा उचित देखरेख सम्भव नहीं है। मेहता समिति की सिफारिश के बाद तो छोटे आकार की समितियों को भी सीमित दायित्व के आधार पर गठित किया जा रहा है। किन्तु व्यवहार में कौन–सा दायित्व अपनाया जाये यह प्रत्येक समिति की परिस्थितियों पर निर्भर करता है। यदि प्रबन्ध कुशल हो तो असीमित दायित्व से कोई भय नहीं रहता।

संदर्भ सूची

1. जे0 कृष्णमूर्ति, कॉपरेटिव इन काफलोनियल इंडिया , दिल्ली, 1989,
2. कुमकुम संगारी एवं सुरेश वैद्य, रीकास्टिंग कॉपरेटिव : एसेज इन कॉलोनियल हिस्ट्री, दिल्ली 1989
3. वार्षिक प्रतिवेदन भारतीय राष्ट्रीय सहकारी संध, नई दिल्ली, 2005
4. वार्षिक प्रतिवेदन राष्ट्रीय कृषि मार्केटिंग सहकारी संध नई दिल्ली , 2001
5. वार्षिक प्रतिवेदन राष्ट्रीय सहकारी उपभोगता संध, नई दिल्ली , 2003
6. वार्षिक प्रतिवेदन इन्टरनेशनल को– ऑपरेटिव एलायंस, नई दिल्ली, 2005

7. धनश्याम साह, कॉपरेटिव प्रोटेस्ट मूवमेंट इन इंडिया स्टेप्स : ए स्टडी ऑफ गुजरात एण्ड बिहार मूवमेंट, दिल्ली, 1977